जैन, बौद्ध और औपनिषदिक ऋषियों के उपदेशों का प्राचीनतम सङ्कलन : ऋषिभाषित

जैन आगम-साहित्य में ऋषिभाषित का स्थान

ऋषिभाषित-(इसिभासियाइं) अर्धमागधी जैन आगम-साहित्य का एक प्राचीनतम ग्रन्थ है। वर्तमान में जैन आगमों के वर्गीकरण की जो पद्धति प्रचलित है, उसमें इसे प्रकीर्णक ग्रन्थों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जाता है। दिगम्बर परम्परा में १२ अंग और १४ अंगबाह्य माने गये हैं; किन्तु उनमें ऋषिभाषित का उल्लेख नहीं है। श्वेताम्बर जैन परम्परा में स्थानकवासी और तेरापंथी, जो ३२ आगम मानते हैं , उनमें भी ऋषिभाषित का उल्लेख नहीं है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में ११ अंग, १२ उपांग, ६ छेदसूत्र, ४ मूलसूत्र, २चूलिकासूत्र और १० प्रकीर्णक, ऐसे जो ४५ आगम माने जाते हैं, उनमें भी १० प्रकीर्णकों मे हमें कहीं ऋषिभाषित का नाम नहीं मिलता। यद्यपि नन्दीसूत्र और पाक्षिकसूत्र में जो कालिक सूत्रों की गणना की गयी है उनमें ऋषिभाषित का उल्लेख है।[१] आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थभाष्य में अंगबाह्य ग्रन्थों की जो सूची दी है उसमें सर्वप्रथम सामायिक आदि ६ ग्रन्थों का उल्लेख है और उसके पश्चात् दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशा (आचारदशा), कल्प, व्यवहार, निशीथ और ऋषिभाषित का उल्लेख है।[२] हरिभद्र आवश्यकनिर्युक्ति की वृत्ति में एक स्थान पर इसका उल्लेख उत्तराध्ययन के साथ करते हैं[३] और दूसरे स्थान पर 'देविंदथय' नामक प्रकीर्णक के साथ।[४] हरिभद्र के इस भ्रम का कारण यह हो सकता है कि उनके सामने ऋषिभाषित (इसिभासियाइं) के साथ-साथ ऋषिमण्डलस्तव (इसिमण्डलथउ) नामक ग्रन्थ भी था, जिसका उल्लेख आचारांगचूर्णि में है और उनका उद्देश्य ऋषिभाषित को उत्तराध्ययन के साथ और ऋषिमण्डलस्तव को 'देविंदथय' के साथ जोड़ने का होगा। यह भी स्मरणीय है कि इसिमण्डल (ऋषिमण्डल) में न केवल ऋषिभाषित के अनेक ऋषियों का उल्लेख है, अपितु इसिभासियाइं में उनके जो उपदेश और अध्याय हैं उनका भी संकेत है। इससे यह भी निश्चित होता है कि इसिमण्डल का कर्ता ऋषिभाषित से अवगत था। मात्र यही नहीं ऋषिमण्डल में तो क्रम और नामभेद के साथ ऋषिभाषित के लगभग सभी ऋषियों का भी उल्लेख मिलता है। इसिमण्डल का उल्लेख आचारांगचूर्णि 'इसिणामकित्तणं इसिमण्डलत्थउ ' (पृ० ३७४) में होने से यह निश्चित ही उसके पूर्व (७वीं शती) का पूर्व के ग्रन्थ है। विद्वानों को इस सम्बन्ध में विशेष रूप से चिन्तन करना चाहिए। इसिमण्डल के संबंध में यह मान्यता है कि वह तपागच्छ के धर्मघोषसूरि की रचना है, किन्तु यह धारणा मुझे भ्रान्त प्रतीत होती है क्योंकि ये १४ वीं शती के आचार्य हैं। वस्तुत: इसिमण्डल की भाषा से भी ऐसा लगता है कि यह प्राचीन ग्रन्थ है और इसका लेखक ऋषिभाषित का ज्ञाता है। आचार्य जिनप्रभ ने विधिमार्गप्रपा में तप आराधना के साथ आगमों के स्वाध्याय की जिस विधि का वर्णन किया है, उसमें प्रकीर्णकों में ऋषिभाषित का उल्लेख करके प्रकीर्णक अध्ययन क्रम विधि को समाप्त किया है। उन्होंने जिन प्रकीर्णकों का उल्लेख किया है उनमें ऋषिभाषित भी समाहित है।[५] इस प्रकार वर्गीकरण की प्रचलित पद्धति में ऋषिभाषित की गणना प्रकीर्णक सूत्रों में की जा सकती है।

प्राचीनकाल में जैन परम्परा में इसे एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता था। आवश्यकनिर्युक्ति में भद्रबाहु ऋषिभाषित पर भी निर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा करते हैं[६], वर्तमान में यह निर्युक्ति उपलब्ध नहीं होती है। आज तो यह कहना भी कठिन है कि यह निर्युक्ति लिखी गई थी या नहीं। यद्यपि 'इसिमण्डल' जिसका उल्लेख आचारांगचूर्णि में है, इससे सम्बन्धित अवश्य प्रतीत होता है। इन सबसे इतना तो सिद्ध हो जाता है कि ऋषिभाषित एक समय तक जैन परम्परा का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रहा है। स्थानांग में इसका उल्लेख प्रश्नव्याकरणदशा के एक भाग के रूप में हुआ है।[७] समवायांग इसके ४४ अध्ययनों का उल्लेख करता है।[८] नन्दीसूत्र, पाक्षिकसूत्र आदि में इसकी गणना कालिकसूत्रों में की गई है। आवश्यकनिर्युक्ति इसे धर्मकथानुयोग का ग्रन्थ कहती है (आवश्यकनिर्युक्ति-हारिभद्रीयवृत्ति, पृ० २०६)।

ऋषिभाषित का रचनाक्रम एवं काल

यह ग्रन्थ अपनी भाषा, छन्दयोजना और विषयवस्तु की दृष्टि से अर्धमागधी जैन आगम ग्रन्थों में अतिप्राचीन है। मेरी दृष्टि में यह ग्रन्थ आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध से किंचित् परवर्ती तथा सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक जैसे प्राचीन आगम ग्रन्थों की अपेक्षा पूर्ववर्ती सिद्ध होता है। इतना सुनिश्चित है कि इसकी छन्दयोजना, शैली एवं भाषा अत्यन्त प्राचीन है। मेरी दृष्टि में इसका वर्तमान स्वरूप भी किसी भी स्थिति में ईसापूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी से परवर्ती सिद्ध नहीं होता है। स्थानांग में प्राप्त सूचना के अनुसार यह ग्रन्थ प्रारम्भ में प्रश्नव्याकरणदशा का एक भाग था, स्थानांग में प्रश्नव्याकरणदशा की जो दस दशाएँ वर्णित हैं, उनमें ऋषिभाषित का भी उल्लेख है। समवायांग इसके ४४ अध्ययन होने की भी सूचना देता है। अत: यह इनका पूर्ववर्ती तो अवश्य ही है। सूत्रकृतांग में नमि, बाहुक, रामपुत्त, असितदेवल, द्वैपायन, पराशर आदि ऋषियों का एवं उनकी आचारगत मान्यताओं का किंचित् निर्देश है। इन्हें तपोधन और महापुरुष कहा गया है। उसमें कहा गया है कि ये पूर्व ऋषि इस (आर्हत् प्रवचन) में 'सम्मत' माने गये हैं। इन्होंने (सचित्त) बीज और पानी का सेवन करके भी मोक्ष प्राप्त किया था।[९] अत: पहला प्रश्न यही उठता है कि इन्हें सम्मानित रूप में जैन परम्परा में सूत्रकृतांग के पहले किस ग्रन्थ में स्वीकार किया गया है। मेरी दृष्टि में केवल ऋषिभाषित ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें इन्हें सम्मानित रूप से स्वीकार किया गया। सूत्रकृतांग की गाथा का 'इस-सम्मता' शब्द स्वयं सूत्रकृतांग की अपेक्षा ऋषिभाषित के पूर्व अस्तित्व की सूचना देता है। ज्ञातव्य है कि सूत्रकृतांग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और ऋषिभाषित दोनों में जैनेतर परम्परा के अनेक ऋषियों यथा असितदेवल, बाहुक आदि का सम्मानित रूप में उल्लेख किया गया है। यद्यपि दोनों की भाषा एवं शैली भी मुख्यत: पद्यात्मक ही है, फिर भी भाषा के दृष्टिकोण से विचार करने पर सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा भी ऋषिभाषित की अपेक्षा परवर्तीकाल की लगती है। क्योंकि उसकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत के निकट है। जबकि ऋषिभाषित की भाषा कुछ परवर्ती परिवर्तन को छोड़कर प्राचीन अर्धमागधी है। पुन: जहाँ सूत्रकृतांग में इतर दार्शनिक मान्यताओं की समालोचना की गयी है, वहाँ ऋषिभाषित में इतर परम्परा के ऋषियों का सम्मानित रूप में ही उल्लेख हुआ है। यह सुनिश्चित सत्य है कि यह ग्रन्थ जैनधर्म एवं संघ के सुव्यवस्थित होने के पूर्व लिखा गया था। इस ग्रन्थ के अध्ययन से यह भी स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि इसके रचनाकाल तक जैन संघ में साम्प्रदायिक अभिनिवेश का पूर्णत: अभाव था। मंखलिगोशालक और उसकी मान्यताओं का उल्लेख हमें जैन आगम सूत्रकृतांग[१०], भगवती[११] और उपासकदशांग[१२] में और बौद्ध परम्परा के सुत्तनिपात, दीघनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त[१३] आदि में मिलता है। सूत्रकृतांग में यद्यपि स्पष्टत: मंखलिगोशालक का उल्लेख नहीं है, किन्तु उसके आर्द्रक नामक अध्ययन में नियतिवाद की समालोचना अवश्य है। यदि हम साम्प्रदायिक अभिनिवेश के विकास की दृष्टि से विचार करें तो भगवती का मंखलिगोशालक वाला प्रकरण सूत्रकृतांग और उपासकदशांग की अपेक्षा भी पर्याप्त परवर्ती सिद्ध होगा। सूत्रकृतांग, उपासकदशाङ्ग और पालित्रिपिटक के अनेक ग्रन्थ मंखलिगोशालक के नियतिवाद को प्रस्तुत करके उसका खण्डन करते हैं। फिर भी जैन आगम ग्रन्थों की अपेक्षा सुत्तनिपात में मंखलिगोशालक की गणना बुद्ध के समकालीन छ: तीर्थंकरों में करके उनके महत्त्व और प्रभावशाली व्यक्तित्व का वर्णन अवश्य किया गया है,[१४] किन्तु पालित्रिपिटक के प्राचीनतम ग्रन्थ सुत्तनिपात की अपेक्षा भी ऋषिभाषित में उसे अर्हतऋषि कहकर सम्मानित किया गया है। अत: धार्मिक उदारता की दृष्टि से ऋषिभाषित की रचना पालित्रिपिटक की अपेक्षा भी प्राचीन है क्योंकि किसी भी धर्मसंघ के सुव्यवस्थित होने के पश्चात् ही उसमें साम्प्रदायिक अभिनिवेश का विकास हो पाता है। ऋषिभाषित स्पष्टरूप से यह सूचित करता है कि उसकी रचना जैन-परम्परा में साम्प्रदायिक अभिनिवेश आने के बहुत पूर्व हो चुकी थी। केवल आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को छोड़कर शेष सभी जैन आगम-ग्रन्थों में यह धार्मिक अभिनिवेश न्यूनाधिक रूप में अवश्य परिलक्षित होता है। अत: ऋषिभाषित केवल आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को छोड़कर शेष सभी जैनागमों से प्राचीन सिद्ध होता है। भाषा, छन्दयोजना आदि की दृष्टि से भी यह आचारांग के प्रथमश्रुत स्कन्ध और सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के मध्य में ही सिद्ध होता है।

बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में प्राचीनतम ग्रन्थ सुत्तनिपात है[१५] किन्तु उसमें भी वह उदारता नहीं है जो ऋषिभाषित में है। त्रिपिटक साहित्य में ऋषिभाषित में उल्लिखित कुछ ऋषियों यथा नारद,[१६] असितदेवल,[१७] पिंग,[१८] मंखलिपुत्र,[१९] संजय[२०](वेलट्ठिपुत्त), वर्धमान[२१](निग्गथं नातपुत्त), कुमापुत्त[२२] आदि के उल्लेख हैं किन्तु इन सभी को बुद्ध से निम्न ही बताया गया है। दूसरे शब्दों में वे ग्रन्थ भी साम्प्रदायिक अभिनिवेश से मुक्त नहीं हैं, अत: यह उनका भी पूर्ववर्ती ही है। ऋषिभाषित में उल्लिखित अनेक गाथांश और गाथाएँ भाव, भाषा और शब्दयोजना की दृष्टि से जैन परम्परा के सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन,दशवैकालिक और बौद्ध परम्परा के सुत्तनिपात, धम्मपद आदि प्राचीन ग्रन्थों में पाई जाती है। अत: उनकी रचना-शैली की अपेक्षा भी यह पूर्ववर्ती ही सिद्ध होता है। यद्यपि यह तर्क दिया जा सकता है कि यह भी सम्भव है कि ये गाथाएँ एवं विचार बौद्धग्रन्थ सुत्तनिपात एवं जैनग्रन्थ उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक से ऋषिभाषित में गये हैं, किन्तु यह बात इसलिए समुचित नहीं है कि प्रथम तो ऋषिभाषित की भाषा, छन्द-योजना आदि इन ग्रन्थों की अपेक्षा प्राचीनकाल की है और आचारांग एवं सूत्रकृतांग के प्रथमश्रुतस्कन्ध तथा सुत्तनिपात के अधिक निकट है। दूसरे जहाँ ऋषिभाषित में इन विचारों को अन्य परम्पराओं के ऋषियों के सामान्य सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया गया है, वहाँ बौद्ध त्रिपिटक साहित्य और जैन साहित्य से इन्हें अपनी परम्परा से जोड़ने का प्रयत्न किया गया है। उदाहरण के रूप में आध्यात्मिक कृषि की चर्चा ऋषिभाषित[२३] में दो बार और सुत्तनिपात[२४] में एक बार हुई है किन्तु जहाँ सुत्तनिपात में बुद्ध कहते हैं कि मैं इस प्रकार की आध्यात्मिक कृषि करता हूँ वहाँ ऋषिभाषित का ऋषि कहता है कि जो भी इस प्रकार की कृषि करेगा वह चाहे ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो या शूद्र हो मुक्त होगा। अत: ऋषिभाषित आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध को छोड़कर जैन और बौद्ध परम्परा के अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा प्राचीन ही सिद्ध होता है।

भाषा की दृष्टि से विचार करने पर हम यह भी पाते हैं कि ऋषिभाषित में अर्धमागधी प्राकृत का प्राचीनतम रूप बहुत कुछ सुरक्षित है। उदाहरण के रूप में ऋषिभाषित में आत्मा के लिए 'आता' का प्रयोग हुआ है जबकि जैन आगम साहित्य में भी अत्ता, अप्पा, आदा, आया आदि शब्दों का प्रयोग देखा जाता है जो कि परवर्ती प्रयोग हैं। 'त' श्रुति की बहुलता निश्चितरूप से इस ग्रन्थ को उत्तराध्ययन की अपेक्षा पूर्ववर्ती सिद्ध करती है क्योंकि उत्तराध्ययन की भाषा में 'त' के लोप की प्रवृत्ति देखी जाती है। ऋषिभाषित में जाणति, परितप्पति, गच्छती, विज्जती, वट्टती, पवत्तती आदि रूपों का प्रयोग बहुलता से मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि भाषा और विषयवस्तु दोनों की ही दृष्टि से यह एक पूर्ववर्ती ग्रन्थ है। अगन्धन कुल के सर्प का रूपक हमें उत्तराध्ययन[२५],दशवैकालिक[२६] और ऋषिभाषित[२७] तीनों में मिलता है। किन्तु तीनों स्थानों के उल्लेखों को देखने पर यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि ऋषिभाषित का यह उल्लेख उत्तराध्ययन तथा दशवैकालिक की अपेक्षा अत्यधिक प्राचीन है। क्योंकि ऋषिभाषित में मुनि को अपने पथ से विचलित न होने के लिए इसका मात्र एक रूपक के रूप में प्रयोग हुआ है जबकि दशवैकालिक और उत्तराध्ययन में यह रूपक राजमती और रथनेमि की कथा के साथ जोड़ा गया है। इसी प्रकार आध्यात्मिक कृषि का रूपक ऋषिभाषित के अध्याय २६ एवं ३२ में और सुत्तनिपात अध्याय ४ में है। किन्तु सुत्तनिपात में जहाँ बुद्ध स्वयं कहते हैं कि मैं कृषि करता हूँ, वहाँ ऋषिभाषित में वह एक सामान्य उपदेश है, जिसके अन्त में यह कहा गया है कि जो इस प्रकार की कृषि करता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है वह सिद्ध (सिज्झंति) होता है, फिर चाहे वह ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो या शूद्र हो।[२८] अत: ऋषिभाषित सुत्तनिपात, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक की अपेक्षा प्राचीन है। इस प्रकार ऋषिभाषित आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध का परवर्ती और शेष सभी अर्धमागधी आगम-साहित्य का पूर्ववर्ती ग्रन्थ है। इसी प्रकार पालित्रिपिटक के प्राचीनतम ग्रन्थ सुत्तनिपात की अपेक्षा भी प्राचीन होने से यह सम्पूर्ण पालित्रिपिटक से भी पूर्ववर्ती कहा जा सकता है।

जहाँ तक इसमें वर्णित ऐतिहासिक ऋषियों के उल्लेखों के आधार पर कालनिर्णय करने का प्रश्न है केवल वज्जीपुत्त को छोड़कर शेष सभी ऋषि महावीर और बुद्ध से या तो पूर्ववर्ती हैं या उनके समकालिक हैं। पालित्रिपिटक के आधार पर वज्जीयपुत्त (वात्सीयपुत्र) भी बुद्ध के लघुवयस्क समकालीन ही हैं, वे आनन्द के निकट थे। वज्जीपुत्रीय सम्प्रदाय भी बुद्ध के निर्वाण की प्रथम शताब्दी में ही अस्तित्व में आ गया था। अत: इनका बुद्ध के लघुवयस्क समकालीन होना सिद्ध है। अत: ऐतिहासिक दृष्टि से भी 'ऋषिभाषित' बुद्ध और महावीर के निर्वाण की प्रथम शताब्दी में ही निर्मित हो गया होगा। यह सम्भव है इसमें बाद में कुछ परिवर्तन हुआ हो। मेरी दृष्टि में यह इसके रचनाकाल की पूर्व सीमा ई०पू० ५वीं शताब्दी और अन्तिम सीमा ई० पू० ३शती के बीच ही है। अत: यह इससे अधिक परवर्ती नहीं है। मुझे अन्त: और बाह्य साक्ष्यों में कोई भी ऐसा तत्त्व नहीं मिला, जो इसे इस कालावधि से परवर्ती सिद्ध करे। दार्शनिक विकास की दृष्टि से विचार करने पर भी हम इसमें न तो जैन सिद्धान्तों का और न बौद्ध सिद्धान्तों का विकसित रूप पाते हैं। मात्र पंचास्तिकाय और अष्टविध कर्म का निर्देश है। यह भी सम्भव है कि ये अवधारणाएँ पार्श्वापत्यों में प्रचलित रही हों और वहीं से महावीर की परम्परा में ग्रहण की गई हों। परिषह, कषाय आदि की अवधारणाएँ तो प्राचीन ही हैं। ऋषिभाषित के वात्सीयपुत्र, महाकाश्यप, सारिपुत्र आदि बौद्ध ऋषियों के उपदेश में भी केवल बौद्ध धर्म के प्राचीन सिद्धान्त, सन्ततिवाद, क्षणिकवाद आदि ही मिलते हैं। अत: बौद्ध दृष्टि से भी यह जैनागम एवं पालित्रिपिटक से प्राचीन सिद्ध होता है।

ऋषिभाषित की रचना

ऋषिभाषित की रचना के सम्बन्ध में प्रो० शुब्रिंग एवं अन्य विद्वानों का मत है कि यह मूलत: पार्श्व की परम्परा में निर्मित हुआ होगा, क्योंकि उस परम्परा का स्पष्ट प्रभाव प्रथम अध्याय में देखा जाता है जहाँ ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को एक साथ मानकर उसे चातुर्याम की व्यवस्था के अनुरूप ढाला गया है।[२९] पुन: पार्श्व का विस्तृत अध्याय भी इसी तथ्य को पुष्ट करता है। दूसरे इसे पार्श्व की परम्परा का मानने का एक आधार यह भी है कि पार्श्व की परम्परा अपेक्षाकृत अधिक उदार थी। उसकी अन्य परिव्राजक और श्रमण परम्पराओं से आचार-व्यवहार आदि में भी अधिक निकटता थी। पार्श्वापत्यों के महावीर के संघ में प्रवेश के साथ यह ग्रन्थ महावीर की परम्परा में आया और उनकी परम्परा में निर्मित दशाओं में प्रश्नव्याकरणदशा के एक भाग के रूप में सम्मिलित किया गया।

ऋषिभाषित का प्रश्नव्याकरण से पृथक्करण

अब यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि क्यों पहले तो उसे प्रश्नव्याकरणदशा में डाला गया और बाद में उसे उससे अलग कर दिया गया? मेरी दृष्टि में पहले तो विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक उपदेशों का संकलन होने से इसे अपने आगम-साहित्य में स्थान देने में महावीर की परम्परा के आचार्यों को कोई बाधा प्रतीत नहीं हुई होगी, किन्तु जब जैन संघ सुव्यवस्थित हुआ और अपनी एक परम्परा बन गई तो अन्य परम्पराओं के ऋषियों को आत्मसात् करना उसके लिए कठिन हो गया। मेरी दृष्टि में प्रश्नव्याकरण से ऋषिभाषित को अलग करना कोई आकस्मिक घटना नहीं है, अपितु एक उद्देश्यपूर्ण घटना है। यह सम्भव नहीं था कि एक ओर तो सूत्रकृतांग, भगवती[३०] और उपासकदशांग[३१] में मंखलिगोशालक की तथा ज्ञाताधर्म[३२] में नारद की आलोचना करते हुए उनके चरित्र के हनन का प्रयत्न किया जाये और दूसरी ओर उन्हें अर्हत् ऋषि कहकर उनके उपदेशों को आगम वचन के रूप में सुरक्षित रखा जाये। ईसा की प्रथम शती तक जैनसंघ की श्रद्धा को टिकाये रखने का प्रश्न प्रमुख बन गया था। नारद, मंखलिगोशालक, याज्ञवल्क्य, सारिपुत्र आदि को अर्हत् ऋषि मानकर उनके वचनों को तीर्थंकर की आगम वाणी के रूप में स्वीकार करना कठिन हो गया था, यद्यपि इसे भी जैन आचार्यों का सौजन्य ही कहा जाना चाहिए कि उन्होंने ऋषिभाषित को प्रश्नव्याकरण से अलग करके भी प्रकीर्णक ग्रन्थ के रूप में उसे सुरक्षित रखा। साथ ही उसकी प्रामाणिकता को बनाये रखने के लिए उसे प्रत्येकबुद्धभाषित माना। यद्यपि साम्प्रदायिक अभिनिवेश ने इतना अवश्य किया कि उसमें उल्लिखित पार्श्व, वर्धमान, मंखलिपुत्र आदि को आगम में वर्णित उन्हीं व्यक्तित्वों से भिन्न कहा जाने लगा।

ऋषिभाषित के ऋषियों को प्रत्येकबुद्ध क्यों कहा गया?

ऋषिभाषित के मूलपाठ में केतलिपुत्र को ऋषि, अंबड (२५) को परिव्राजक; पिंग (३२), ऋषिगिरि (३४) एवं श्री गिरि को ब्राह्मण (माहण) परिव्राजक अर्हत्ऋषि, सारिपुत्र को बुद्ध अर्हत् ऋषि तथा शेष सभी को अर्हत् ऋषि के नाम से सम्बोधित किया गया। उत्कट (उत्कल) नामक अध्ययन में वक्ता के नाम का उल्लेख ही नहीं है, अत: उसके साथ कोई विशेषण होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। यद्यपि ऋषिभाषित के अन्त में प्राप्त होनेवाली संग्रहणी गाथा में[३३] एवं ऋषिमण्डल[३४] में इन सबको प्रत्येकबुद्ध कहा गया है तथा यह भी उल्लेख है कि इनमें से बीस अरिष्टनेमि के, पन्द्रह पार्श्वनाथ के और शेष महावीर के शासन में हुए। किन्तु यह गाथा परवर्ती है और बाद में जोड़ी गयी लगती है। मूलपाठ में कहीं भी इनका प्रत्येकबुद्ध के रूप में उल्लेख नहीं है। समवायांग में ऋषिभाषित की चर्चा के प्रसंग में इन्हें मात्र देवलोक से च्युत कहा गया है, प्रत्येकबुद्ध नहीं कहा गया है। यद्यपि समवायांग में ही प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु का विवरण देते समय यह कहा गया है कि इसमें स्वसमय और परसमय के प्रवक्ता प्रत्येकबुद्धों के विचारों का संकलन है। चूँकि ऋषिभाषित प्रश्नव्याकरण का ही एक भाग था। इस प्रकार ऋषिभाषित के ऋषियों को सर्वप्रथम समवायांग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में परोक्षरूप से प्रत्येकबुद्ध मान लिया गया था।[३५] यह स्पष्ट है कि ऋषिभाषित के अधिकांश ऋषि जैन-परम्परा के नहीं थे अत: उनके उपदेशों को मान्य रखने के लिए उन्हें प्रत्येकबुद्ध कहा गया। संग्रहणीगाथा तो उन्हें स्पष्टरूप से प्रत्येकबुद्ध कहती ही है। जैसा कि हमने पूर्व में सूचित किया। इन्हें प्रत्येकबुद्ध कहने का प्रयोजन यही था कि इन्हें जैन संघ से पृथक् मानकर भी इनके उपदेशों को प्रामाणिक माना जा सके। जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं में प्रत्येकबुद्ध वह व्यक्ति है, जो किसी निमित्त से स्वयं प्रबुद्ध होकर एकाकी साधना करते हुए ज्ञान प्राप्त करता है, किन्तु न तो वह स्वयं किसी का शिष्य बनता है और न किसी को शिष्य बनाकर संघ व्यवस्था करता है। इस प्रकार प्रत्येकबुद्ध किसी परम्परा या संघ व्यवस्था में आबद्ध नहीं होता है, फिर भी वह समाज में आदरणीय होता है और उसके उपदेश प्रामाणिक माने जाते हैं।

ऋषिभाषित और जैनधर्म के सिद्धान्त

ऋषिभाषित का समग्रत: अध्ययन हमें इस सम्बन्ध में विचार करने को विवश करता है कि क्या ऋषिभाषित में अन्य परम्पराओं के ऋषियों द्वारा उनकी ही अपनी मान्यताओं का प्रतिपादन करवाया गया है अथवा उनके मुख से जैन परम्परा की मान्यताओं का प्रतिपादन करवाया गया है। प्रथम दृष्टि के देखने पर तो ऐसा भी लगता है कि उनके मुख से जैन मान्यताओं का प्रतिपादन हुआ है। प्रो० शुब्रिंग और उनके ही आधार पर प्रो० लल्लनजी गोपाल ने प्रत्येक ऋषि के उपदेशों के प्रतिपादन के प्रारम्भिक और अन्तिम कथन की एकरूपता के आधार पर यह मान लिया है कि ग्रन्थकार ऋषियों के उपदेशों के प्रस्तुतीकरण में प्रामाणिक नहीं हैं। उसने इनके उपदेशों को अपने ही ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। अधिकांश अध्यायों में जैन पारिभाषिक पदावली यथा पंचमहाव्रत, कषाय , परिषह आदि को देखकर इस कथन में सत्यता परिलक्षित होने लगती है। उदाहरणार्थ प्रथम, नारद नामक अध्ययन में यद्यपि शौच के चार लक्षण बताये गये हैं, किन्तु यह अध्याय जैन परम्परा के चातुर्याम का ही प्रतिपादन करता है। वज्जीयपुत्त नामक द्वितीय अध्याय में कर्म के सिद्धान्त की अवधारणा का प्रतिपादन किया गया है। यह अध्याय जीव के कर्मानुगामी होने की धारणा का प्रतिपादन करता है, साथ ही मोह को दु:ख का मूल बताता है। यह स्पष्ट करता है कि जिस प्रकार बीज से अंकुर और अंकुर से बीज की परम्परा चलती रहती है, उसी प्रकार से मोह से कर्म और कर्म से मोह की परम्परा चलती रहती है और मोह के समाप्त होने पर कर्म-सन्तति ठीक वैसे ही समाप्त होती है जैसे वृक्ष के मूल को समाप्त करने पर उसके फल-पत्ती अपने आप समाप्त होते हैं। कर्म सिद्धान्त की यह अवधारणा ऋषिभाषित के अध्याय १३, १५, २४, और ३० में भी मिलती है। जैन परम्परा में इससे ही मिलता-जुलता विवरण उत्तराध्ययन के बत्तीसवें अध्याय से प्राप्त होता है। इसी प्रकार तीसरे असितदेवल नामक अध्याय में हमें जैन परम्परा और विशेषरूप से आचारांग में उपलब्ध पाप को लेप कहने की बात मिल जाती है। इस अध्याय में हमें पाँच महाव्रत, चार कषाय तथा इसी प्रकार हिंसा से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के १८ पापों का उल्लेख भी मिलता है। यह अध्याय मोक्ष के स्वरूप का विवेचन भी करता है और उसे शिव, अतुल, अमल, अव्याघात, अपुनर्भव, अपुनरावर्तन तथा शाश्वत स्थान बताता है। मोक्ष का ऐसा ही स्वरूप हमें जैन-आगम-साहित्य में अन्यत्र भी मिलता है। पाँच महाव्रतों और चार कषायों का विवरण तो ऋषिभाषित के अनेक अध्यायों में आया है। महाकाश्यप नामक ९वें अध्ययन में पुण्य, पाप तथा संवर और निर्जरा की चर्चा उपलब्ध होती है। इसी अध्याय में कषाय का भी उल्लेख है। नवें अध्याय में कर्म आदान की मुख्य चर्चा करते हुए मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग को बन्धन का कारण कहा गया है जो कि जैन परम्परा के पूर्णत: अनुरूप है। इसमें जैन परम्परा के अनेक पारिभाषिक शब्द यथा उपक्रम, बद्ध, स्पृष्ट, निकाचित, निर्जीर्ण, सिद्धि, शैलेषी अवस्था, प्रदेशोदय, विपाकोदय आदि पाये जाते हैं। इस अध्याय में प्रतिपादित आत्मा की नित्यानित्यता की अवधारणा सिद्धावस्था का स्वरूप एवं कर्मबन्धन और निर्जरा की प्रक्रिया जैन दर्शन के समान है।

इसी तरह अनेक अध्यायों में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अवधारणा भी मिलती है। बारहवें याज्ञवल्क्य नामक अध्ययन में जैन परम्परा के अनुरूप गोचरी के स्वरूप एवं शुद्धैषणा की चर्चा मिल जाती है। आत्मा अपने शुभाशुभ कर्मों का कर्ता और कृत कर्मों के फल का भोक्ता है, यह बात भी १५वें मधुरायन नामक अध्ययन में की गयी है। सत्रहवें विदुर नामक अध्ययन में सावद्ययोग विरति और समभाव की चर्चा है। उन्नीसवें आरियायण नामक अध्याय में आर्य ज्ञान, आर्यदर्शन और आर्यचरित्र के रूप में प्रकारान्तर से सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चरित्र की ही चर्चा है। बाईसवाँ अध्याय धर्म के क्षेत्र में पुरुष की प्रधानता की चर्चा करता है तथा नारी की निन्दा करता है। इसकी सूत्रकृतांग के इत्थिपरिण्णा नामक अध्ययन से समानता है। तेईसवें रामपुत्त नामक अध्याय में उत्तराध्ययन (२८/३५) के समान ही ज्ञान के द्वारा जानने, दर्शन के द्वारा देखने, संयम के द्वारा निग्रह करने की तथा तप के द्वारा अष्टविध कर्म के विधुनन की बात कही गयी है। अष्टविध कर्म की यह चर्चा केवल जैन परम्परा में ही पायी जाती है। पुन: चौबीसवें अध्याय में भी मोक्षमार्ग के रूप में ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की चर्चा है। इसी अध्याय में देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारक-इन चतुर्गतियों की भी चर्चा है। पचीसवें अम्बड नामक अध्याय में चार कषाय, चार विकथा, पाँच महाव्रत, तीन गुप्ति,पंच इन्द्रिय संयम, छ: जीवनिकाय, सात भय, आठ मद, नौ प्रकार का ब्रह्मचर्य तथा दस प्रकार के समाधिस्थान की चर्चा है। इस प्रकार इस अध्याय में जैन परम्परा में मान्य अनेक अवधारणाएँ एक साथ उपलब्ध हो जाती हैं। इसी अध्याय में आहार करने के छ: कारणों की वह चर्चा भी है, जो कि स्थानांग (स्थान ६१) आदि में मिलती है। स्मरण रहे कि यद्यपि जैनागमों में अम्बड को परिव्राजक माना है, फिर भी उसे महावीर के प्रति श्रद्धावान् बताया है।[३६] यही कारण है कि इसमें सर्वाधिक जैन अवधारणाएँ उपलब्ध हैं। ऋषिभाषित के छब्बीसवें अध्याय में उत्तराध्ययन के पचीसवें अध्याय के समान ही ब्राह्मण के स्वरूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की चर्चा है। इसी अध्याय में कषाय, निर्जरा, छः जीवनिकाय और सर्वप्राणियों के प्रति दया का भी उल्लेख है। इकतीसवें पार्श्व नामक अध्ययन, में पुनः चातुर्याम, अष्टविध कर्मग्रन्थि, चार गति, पंचास्तिकाय तथा मोक्ष स्थान के स्वरूप का दिग्दर्शन होता है। इसी अध्याय में जैन परम्परा के समान जीव को ऊर्ध्वगामी और पुद्गल को अधोगामी कहा गया है, किन्तु पार्श्व तो जैन परम्परा में मान्य ही हैं। अतः इस अध्याय में जैन अवधारणाएँ होनी आश्चर्यजनक नहीं हैं। अब विद्वानों की यह धारणा भी बनी है कि जैन दर्शन का तत्त्वज्ञान पार्श्वापत्यों की ही देन है। शुब्रिंग ने भी इसिभासियाइं पर पार्श्वापत्यों का प्रभाव माना है। पुनः ३२वें पिंग नामक अध्याय में जैन परम्परा के अनुरूप चारों वर्णों की मुक्ति का भी प्रतिपादन किया गया है। ३४वें अध्याय में परिषह और उपसर्गों की चर्चा है। इसी अध्याय में पंच महाव्रत से युक्त, कषाय से रहित, छिन्नस्रोत, अनाश्रव भिक्षु की मुक्ति की भी चर्चा है। पुनः ३५वें उद्दालक नामक अध्याय में तीन गुप्ति, तीन दण्ड, तीन शल्य, चार कषाय, चार विकथा, पाँच समिति, पंचेन्द्रियसंयम, योगसन्धान एवं नवकोटि परिशुद्ध, दश दोष से रहित विभिन्न कुलों की परकृत, परनिर्दिष्ट, विगतधूम, शस्त्रपरिणत भिक्षा ग्रहण करने का उल्लेख है। इसी अध्याय में संज्ञा एवं २२ परिषहों का भी उल्लेख है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋषिभाषित में अनेक जैन अवधारणाएँ उपस्थित हैं। अतः यहाँ स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि क्या जैन आचार्यों ने ऋषिभाषित का संकलन करते समय अपनी ही अवधारणाओं को इन ऋषियों के मुख से कहलवा दिया अथवा मूलतः ये अवधारणायें इन ऋषियों की ही थीं और वहाँ से जैन परम्परा में प्रविष्ट हुईं। यह तो स्पष्ट है कि ऋषिभाषित उल्लिखित ऋषियों में पार्श्व और महावीर को छोड़कर शेष अन्य सभी या तो स्वतन्त्र साधक रहे हैं या अन्य परम्पराओं के रहे हैं। यद्यपि इनमें कुछ के उल्लेख उत्तराध्ययन और सूत्रकृतांग में भी हैं। यदि हम इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि इसमें जो विचार हैं वे उन ऋषियों के नहीं हैं तो ग्रन्थ की और ग्रन्थकर्ता की प्रामाणिकता खण्डित होती है, किन्तु दूसरी ओर यह मानना कि ये सभी अवधारणायें जैन परम्परा में अन्य परम्पराओं से प्रविष्ट हुई पूर्णतः सन्तोषप्रद नहीं लगता है। अतः सर्वप्रथम तो हम यह परीक्षण करने का प्रयत्न करेंगे कि ऋषिभाषित में जिन ऋषियों के उपदेश संकलित हैं वे उनके अपने हैं या जैन आचार्यों ने अपनी बात को उनके मुख से कहलवाया है।

ऋषिभाषित में उपदिष्ट अवधारणाओं की प्रामाणिकता का प्रश्न

यद्यपि ऋषिभाषित के सभी ऋषियों के उपदेश और तत्सम्बन्धी साहित्य हमें जैनेतर परम्पराओं में उपलब्ध नहीं होता फिर भी इनमें से कई के विचार और अवधारणाएँ आज भी अन्य परम्पराओं में उपलब्ध हैं। याज्ञवल्क्य का उल्लेख भी उपनिषदों में है। वज्जीयपुत्त, महाकाश्यप और सारिपुत्त के उल्लेख बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में हैं। इसी प्रकार विदुर, नारायण, असितदेवल आदि के उल्लेख महाभारत एवं हिन्दू परम्परा के अन्य ग्रन्थों में मिल जाते हैं। ऋषिभाषित में इनके जो विचार उल्लिखित हैं, उनकी तुलना अन्य स्रोतों से करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि ऋषिभाषित में जिन ऋषियों के जिन विचारों का उल्लेख किया गया है, उनमें कितनी प्रामाणिकता है। ऋषिभाषित के ग्यारहवें अध्याय में मंखलिपुत्र गोशालक का उपदेश संकलित है। मंखलिपुत्र गोशालक के सम्बन्ध में हमें जैन परम्परा में भगवतीसूत्र और उपासकदशांग में, बौद्ध परम्परा में दीघनिकाय के सामञ्ञमहाफलसुत्त और सुत्तनिपात में तथा हिन्दू परम्परा में महाभारत के शान्तिपर्व के १७७ वें अध्याय में मंखी ऋषि के रूप में उल्लेख प्राप्त होता है। तीनों ही स्रोत उसे नियतिवाद का समर्थक बताते हैं। यदि हम ऋषिभाषित अध्याय ११ में वर्णित मंखलिगोशालक के उपदेशों को देखते हैं तो यहाँ भी हमें परोक्ष रूप से नियतिवाद के संकेत उपलब्ध हैं। इस अध्याय में कहा गया है कि जो पदार्थों की परिणति को देखकर कम्पित होता है, वेदना का अनुभव करता है, क्षोभित होता है, आहत होता है, स्पंदित होता है, चलायमान होता है, प्रेरित होता है वह त्यागी नहीं है। इसके विपरीत जो पदार्थों की परिणति को देखकर कम्पित नहीं होता है, क्षोभित नहीं होता, दुःखित नहीं होता है वह त्यागी है। परोक्षरूप से यह पदार्थों की परिणति के सम्बन्ध में नियतिवाद का प्रतिपादक है। संसार की अपनी एक व्यवस्था और गति है वह उसी के अनुसार चल रहा है, साधक को उस क्रम का ज्ञाता द्रष्टा तो होना चाहिए, किन्तु द्रष्टा के रूप में उससे प्रभावित नहीं होना चाहिए। नियतिवाद की मूलभूत आध्यात्मिक शिक्षा यही हो सकती है कि हम संसार के घटनाक्रम से साक्षी भाव से रहें। इस प्रकार यह अध्याय गोशालक के मूलभूत आध्यात्मिक उपदेश को ही प्रतिबिम्बित करता है। इसके विपरीत जैन और बौद्ध साहित्य में जो मंखलिगोशालक के सिद्धान्त का निरूपण है वह वस्तुतः गोशालक की इस आध्यात्मिक अवधारणा में निकाला गया एक विकृत दार्शनिक फलित है। वस्तुतः ऋषिभाषित का रचयिता गोशालक के सिद्धान्तों के प्रति जितना प्रामाणिक है, उतने प्रामाणिक त्रिपिटक और परवर्ती जैन आगमों के रचयिता नहीं हैं।

महाभारत के शान्तिपर्व के १७७वें अध्याय में मंखि ऋषि का उपदेश संकलित है। उसमें एक ओर नियतिवाद का समर्थन है किन्तु दूसरी ओर इसमें वैराग्य का उपदेश भी है। इस अध्याय में मूलतः द्रष्टा भाव और संसार के प्रति अनासक्ति का उपदेश है। यह अध्याय नियतिवाद के माध्यम से ही अध्यात्म का उपदेश देता है। इसमें यह बताया गया है कि संसार की अपनी व्यवस्था है। मनुष्य अपने पुरुषार्थ से भी उसे अपने अनुसार नहीं मोड़ पाता है अतः व्यक्ति को द्रष्टा भाव रखते हुए संसार से विरक्त हो जाना चाहिए। महाभारत के इस अध्याय की विशेषता यह है कि मंखि ऋषि को नियतिवाद का समर्थक मानते हुए भी उस नियतिवाद के माध्यम से उन्हें वैराग्य की दिशा में प्रेरित बताया गया है।

इस आधार पर ऋषिभाषित में मंखलिपुत्र का उपदेश जिस रूप में संकलित मिलता है वह निश्चित ही प्रामाणिक है।

इसी प्रकार ऋषिभाषित के अध्याय ९ में महाकश्यप और अध्याय ३८ में सारिपुत्त के उपदेश संकलित हैं। ये दोनों ही बौद्ध परम्परा से सम्बन्धित रहे हैं। यदि हम ऋषिभाषित में उल्लिखित इनके विचारों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को देखते हैं तो स्पष्ट रूप से इसमें हमें बौद्धधर्म की अवधारणा के मूलतत्त्व परिलक्षित होते हैं। महाकश्यप अध्याय में सर्वप्रथम संसार की दु:खमयता का चित्रण है। इसमें कर्म को दु:ख का मूल कहा गया है और कर्म का मूल जन्म को बताया गया है जो कि बौद्धों के प्रतीत्य-समुत्पाद का ही एक रूप है। इसी अध्याय में एक विशेषता हमें यह देखने को मिलती है कि इसमें कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए 'सन्तानवाद' की चर्चा है जो कि बौद्धों का मूलभूत सिद्धान्त है। इस अध्याय में निर्वाण के स्वरूप को समझाने के लिए बौद्ध दर्शन के मूलभूत दीपक वाले उदाहरण को प्रस्तुत किया गया है। पूरा अध्याय सन्तानवाद और कर्मसंस्कारों के माध्यम से वैराग्य का उपदेश प्रदान करता है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि इसमें बौद्धधर्म के मूल बीज उपस्थित हैं। इसी प्रकार ३८वें सारिपुत्त नामक अध्याय में भी बौद्ध धर्म के मूल उत्स मध्यममार्ग का प्रतिपादन मिलता है। इसके साथ बुद्ध के प्रज्ञावाद का भी इसमें प्रतिपादन हुआ है। इस अध्याय में कहा गया है कि मनोज्ञ भोजन, शयनासन का सेवन करते हुए और मनोज्ञ आवास में रहते हुए भिक्षु सुखपूर्वक ध्यान करता है, फिर भी प्राज्ञ पुरुष को सांसारिक पदार्थों में आसक्त नहीं होना चाहिए यही बुद्ध का अनुशासन है। इस प्रकार यह अध्याय भी बुद्ध के उपदेशों को प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत करता है।

इसी प्रकार याज्ञवल्क्य नामक १२वें अध्याय में भी हम देखते हैं कि याज्ञवल्क्य के मूलभूत उपदेशों का प्रतिपादन हुआ है। ऋषिभाषित के अतिरिक्त याज्ञवल्क्य का उल्लेख हमें उपनिषदों एवं महाभारत में भी मिलता है।[३७] उपनिषद् में जहाँ याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी का संवाद है वहाँ उनकी संन्यास की इच्छा को स्पष्ट किया गया है। ऋषिभाषित में भी याज्ञवल्क्य के उपदेश के रूप में लोकैषणा और वित्तैषणा के त्याग की बात कही गयी है तथा यह कहा गया है कि जब तक लोकैषणा होती है तब तक वित्तैषणा होती है और जब वित्तैषणा होती है तो लोकैषणा होती है। इसलिए लोकैषणा और वित्तैषणा के स्वरूप को जानकर गोपथ से जाना चाहिए, महापथ से नहीं जाना चाहिए। वस्तुत: ऐसा लगता है कि यहाँ निवृत्तिमार्ग को गोपथ और प्रवृत्तिमार्ग को महापथ कहा गया है और याज्ञवल्क्य निवृत्ति मार्ग का उपदेश देते प्रतीत होते हैं। यहाँ सबसे विचारणीय बात यह है कि बौद्धधर्म में जो हीनयान और महायान की अवधारणा का विकास है, कहीं वह गोपथ और महापथ की अवधारणा का विकसित रूप तो नहीं है। आचारांग में महायान शब्द आया है। महाभारत के शान्तिपर्व में भी अध्याय ३१० से लेकर ३१८ तक याज्ञवल्क्य के उपदेशों का संकलन है। इसमें मुख्य रूप से सांख्य और योग की अवधारणा का प्रतिपादन है। ऋषिभाषित के इस अध्याय में मुनि की भिक्षा-विधि की चर्चा है जो कि जैन परम्परा के अनुरूप ही लगती है। वैसे बृहदारण्यक में भी याज्ञवल्क्य भिक्षाचर्या का उपदेश देते हैं। फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि ऋषिभाषित के लेखक ने याज्ञवल्क्य के मूलभूत उपदेशों को विकृत नहीं किया है। ऋषिभाषित के २०वें उत्कल नामक अध्याय में भौतिकवाद या चार्वाक दर्शन का प्रतिपादन है। इस अध्याय के उपदेष्टा के रूप में किसी ऋषि का उल्लेख नहीं है, किन्तु इतना निश्चित है कि इसमें चार्वाक के विचारों का पूरी प्रामाणिकता के साथ प्रतिपादन हुआ है। ऋषिभाषित में वर्धमान का जो उपदेश है उसकी यथार्थ प्रतिच्छाया आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के भावना नामक अध्ययन में एवं उत्तराध्ययन के ३२वें अध्याय में यथावत् रूप से उपस्थित है।

उपर्युक्त आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि ऋषिभाषित में ऋषियों के उपदेश को सामान्य रूप से प्रामाणिकतापूर्वक ही प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि इसमें मुख्य रूप से उनके आध्यात्मिक और नैतिक विचारों का ही प्रस्तुतीकरण हुआ है और उसके पीछे निहित दर्शन पर इसमें कोई बल नहीं दिया गया है। दूसरे यह भी सत्य है कि उनका प्रस्तुतीकरण या ग्रन्थ-रचना जैन परम्परा के आचार्यों के द्वारा हुई है। अत: यह स्वाभाविक था कि उसमें जैन परम्परा में मान्य कुछ परम्परा की अवधारणाएँ प्रतिबिम्बित हो गयी हैं। पुन: इस विश्वास के भी पर्याप्त आधार हैं कि जिन्हें आज हम जैन परम्परा की अवधारणाएँ कह रहे हैं, वे मूलत: अन्य परम्पराओं में प्रचलित रही हों और वहाँ से जैन परम्परा में प्रविष्ट हो गयी हों। अत: ऋषिभाषित के ऋषियों के उपदेशों की प्रामाणिकता को पूर्णत: निरस्त नहीं किया जा सकता है। अधिक से अधिक हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि उन पर परोक्षरूप से जैन परम्परा का कुछ प्रभाव आ गया है।

ऋषिभाषित के ऋषियों की ऐतिहासिकता का प्रश्न

यह एक सुस्पष्ट तथ्य है कि ऋषिभाषित में वर्णित अधिकांश ऋषिगण जैन परम्परा से सम्बन्धित नहीं हैं। उनके कुछ नामों के आगे लगे हुए ब्राह्मण, परिव्राजक आदि शब्द ही उनका जैन परम्परा से भिन्न होना सूचित करते हैं। दूसरे देव नारद, असितदेवल, अंगिरस भारद्वाज, याज्ञवल्क्य , बाहुक, विदुर, वारिषेणवृष्ण, द्वैपायन, आरुणि, उद्दालक, नारायण, ऐसे नाम हैं जो वैदिक परम्परा में सुप्रसिद्ध रहे हैं और आज भी उनके उपदेश उपनिषदों, महाभारत एवं पुराणों में सुरक्षित हैं, इनमें से देव नारद, असितदेवल, अंगिरस भारद्वाज, द्वैपायन के उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त सूत्रकृतांग,अन्तकृद्दशा, औपपातिक आदि जैन-ग्रन्थों में तथा बौद्ध त्रिपिटिक साहित्य में भी मिलते हैं। इसी प्रकार वज्जीयपुत्र, महाकाश्यप और सारिपुत्र बौद्ध परम्परा के सुप्रसिद्ध व्यक्तित्व हैं और उनका उल्लेख त्रिपिटक साहित्य में उपलब्ध है। मंखलिपुत्र, रामपुत्त, अम्बड (अम्बष्ट), संजय (वेलट्ठिपुत्र) आदि ऐसे नाम हैं जो स्वतन्त्र श्रमण परम्पराओं से सम्बन्धित हैं और इनके इस रूप में उल्लेख जैन और बौद्ध परम्पराओं में हमे स्पष्ट रूप से मिलते हैं। ऋषिभाषित के जिन ऋषियों के उल्लेख बौद्ध साहित्य में मिलते हैं उन पर विस्तृत चर्चा प्रो०सी०एस०उपासक ने अपने लेख 'इसिभासियाइ' एण्ड पालि बुद्धिस्ट टेक्स्ट्स् : ए स्टडी' में किया है। यह लेख पं० दलसुखभाई अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित हुआ है। पार्श्व और वर्द्धमान जैन परम्परा के तेईसवें और चौबीसवें तीर्थंकर के रूप में सुस्पष्ट रूप से मान्य हैं। आर्द्रक का उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त सूत्रकृतांग में है। इसके अतिरिक्त पुष्पशालपुत्र, वल्कलचीरी,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुर्मापुत्र, केतलिपुत्र, तेतलिपुत्र, भयालि, इन्द्रनाग ऐसे नाम हैं जिनमें अधिकांश का उल्लेख जैन परम्परा के इसिमण्डल एवं अन्य ग्रन्थों में मिल जाता है। पुष्पशाल, वल्कलचीरी, कुर्मापुत्र आदि का उल्लेख बौद्ध परम्परा में भी है। किन्तु मधुरायण, सोरियायण आर्यायन आदि जिनका उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त हिन्दू, जैन और बौद्ध परम्परा में अन्यत्र नहीं मिलता है उन्हें भी पूर्णतया काल्पनिक व्यक्ति नहीं कह सकते। यदि हम ऋषिभाषित के ऋषियों की सम्पूर्ण सूची का अवलोकन करें तो केवल सोम, यम, वरुण, वायु और वैश्रमण, ऐसे नाम हैं जिन्हें काल्पनिक कहा जा सकता है, क्योंकि जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परम्पराएँ इन्हें सामान्यतया लोकपाल के रूप में ही स्वीकार करती हैं, किन्तु इनमें भी महाभारत में वायु का उल्लेख एक ऋषि के रूप में मिलता है। यम को आवश्यकचूर्णि में यमदग्नि ऋषि का पिता कहा गया है। अत: इस सम्भावना को भी पूरी तरह निरस्त नहीं किया जा सकता है कि यम कोई ऋषि रहे हों। यद्यपि उपनिषदों में भी यम को लोकपाल के रूप में भी चित्रित किया गया है। किन्तु इतना ही निश्चित है कि ये एक उपदेष्टा हैं। यम और नचिकेता का संवाद औपनिषदिक परम्परा में सुप्रसिद्ध ही है। वरुण और वैश्रमण को भी वैदिक परम्परा में मंत्रोपदेष्टा के रूप में स्वीकार किया गया है। यह सम्भव है कि सोम, यम, वरुण, वैश्रमण इस ग्रन्थ के रचनाकाल तक एक उपदेष्टा के रूप में लोक परम्परा में मान्य रहे हों और इसी आधार पर इनके उपदेशों का संकलन ऋषिभाषित में कर लिया गया है।

उपर्युक्त चर्चा के आधार पर निष्कर्ष के रूप में हम यह अवश्य कह सकते हैं कि ऋषिभाषित के ऋषियों में उपर्युक्त चार-पाँच नामों को छोड़कर शेष सभी प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक काल के यथार्थ व्यक्ति हैं, काल्पनिक चरित्र नहीं हैं।

निष्कर्ष रूप में हम इतना ही कहना चाहेंगे कि ऋषिभाषित न केवल जैन परम्परा की अपितु समग्र भारतीय परम्परा की एक अमूल्य निधि है और इसमें भारतीय चेतना की धार्मिक उदारता अपने यथार्थ रूप में प्रतिबिम्बित होती है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि यह हमें अधिकांश ज्ञात और कुछ अज्ञात ऋषियों के सम्बन्ध में और उनके उपदेशों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक सूचनाएँ देता है। जैनाचार्यों ने इस निधि को सुरक्षित रखकर भारतीय इतिहास एवं संस्कृत की बहुमूल्य सेवा की है। वस्तुत: यह ग्रन्थ ईसापूर्व १०वीं शती से लेकर ईसापूर्व ६ठीं शती तक के अनेक भारतीय ऋषियों की ऐतिहासिक सत्ता का निर्विवाद प्रमाण है।

---

१. (अ) से किं कालियं? कालियं अणेगविहं पण्णत्तं।
तं जहा उत्तरज्झयणाइं १ दसाओ २ कप्पो ३ ववहारो ४ णिसीहं ५ महानिसीहं ६ इसिभासियाइं ७ जंबुद्दीवपण्णत्ती ८ दीवसागरपण्णत्ती-नन्दिसूत्र ८४ (महावीर विद्यालय, बम्बई, १९६८)
(ब) नमो तेसिं खमासमणाणं जेहिं इमं वाइअंग बाहिरं कालिअं भगवंतं तं जहा-१ उत्तरझयणाइं २ दसाओ ३ कप्पो ४ ववहारो ५ इसिभासिआइं ६ निसीहं ७ महानिसींह----
(ज्ञातव्य है कि पक्खियसुत्त में अंगबाह्यग्रन्थों की सूची में २८ उत्कालिक और ३६ कालिक कुल ६४ ग्रन्थों के नाम हैं। इसमें ६ आवश्यक और १२ अंग मिलाने से कुल ८२ की संख्या होती है, लगभग यही सूची विधिमार्गप्रपा में भी उपलब्ध होती है।) (—पक्खियसुत्त (पृ० ७९) देवचन्दलालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड सिरीज क्रमांक ९९)

२. अंगबाह्यमनेकविधम्। तद्यथा-सामायिकं, चुतर्विंशतिस्तव:, वन्दनं, प्रतिक्रमणं, कायव्युत्सर्ग:, प्रत्याख्यानं, दशवैकालिकं, उत्तराध्याया:, दशा:, कल्पव्यवहारौ, निशीथं ऋषिभाषितानीत्येवमादि।
— तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् (स्वोपज्ञभाष्य) १/२०, (देवचन्दलालभाई पुस्तकोद्धार एण्ड) क्रम-संख्या ६७.

३. तथा ऋषिभाषितानि उत्तराध्ययनादीनि-----।—आवश्यकनिर्युक्ति-हारिभद्रीयवृत्ति, पृ० २०६.

४. ऋषिभाषितानां च देवेन्द्रस्तवादीनां निर्युक्तिं---।—वही, पृ० ४१।

५. इसिभासियाइं पणयालीसं अज्झयणाइं कालियाइं, तेसु दिण ४५ निव्विएहिं अणागाढजोगो। अण्णे भणंति उत्तरज्झयणेसु चेव एयाइं अतंभवंति। विधिमार्गप्रपा पृ० ५८।
देविंदत्थयमाई पइण्णगा होंति इगिगनिविएण।
इसिभासियअज्झयणा आयंबलिकालतिसज्झा ।।६१।।
केसिं चि मए अंतभवंति एयाइं उत्तरज्झयणे।
पणयालीस दिणेहिं केसि वि जोगो अणागाढो ।।६२।।
विधिमार्गप्रपा, पृ० ६२।
(ज्ञातव्य है कि प्रकीर्णकों की संख्या के सम्बन्ध में विधिमार्गप्रपा में भी मतैक्य नहीं है। 'सज्झायपट्ठवणविही' पृ० ४५ पर ११ अंग, १२ उपांग, ६ छेद, ४ मूल एवं २ चूलिका सूत्र के घटाने पर लगभग ३१ प्रकीर्णकों के नाम मिलते हैं। जबकि पृ० ५७-५८ पर ऋषिभाषित सहित १५ प्रकीर्णकों का उल्लेख है।)

६अ. कालियसुयं च इसिभासियाइं तइओ य सूरपण्णत्ती।
सव्वो य दिट्ठिवाओ चउत्थओ होई अणुओगो ।।१२४।।(मू० भा०)
तथा ऋषिभाषितानि-उत्तराध्ययनादीनि, "तृतीयश्च" कालानुयोग:-आवश्यक हारिभद्रीय वृत्ति, पृ०२०६
(ब) आवस्सगस्स दसकालिअस्स तह उत्तरज्झमायारे।
सूयगडे निज्जुतिं वुच्छामि तहा दसाणं च ।।
कप्पस्स य निज्जुत्तिं ववहारस्सेव परमणिउणस्स।
सूरिअपण्णत्तीए वुच्छं इसिभासिआणं च ।।
— आवश्यकनिर्युक्ति, ८४-८५.

७. पण्हावागरणदसाणं दस अज्झयणा पन्नत्ता, तंजहा-उवमा, संखा, इसिभासियाइं, आयरियभासिताइं, महावीरभासिताइं, खोमपसिणाईं, कोमलपसणाइं, अद्दागपसिणाइं, अंगुट्ठपसिणाइं, बाहुपसिणाइं। ठाणंगसुवे, दसमं अझभयणं दसट्ठाणं। (महावीर जैन विद्यालय संस्करण, पृ० ३११)

८. चोत्तालीसं अज्झयणा इसिभासिया दियलोगचुताभासिया पण्णत्ता। समयवायंगसुत्त-४४।

९. आहंसु महापुरिसा पुव्विं तत्त तवोधणा।
उदएण सिद्धिभावन्ना तत्थ मंदो विसीयति ।।१।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभुंजिया नमी विदेही, रामपुत्ते य भुंजिआ।
बाहुए उदगं भोच्चा तहा नारायणे रिसी ।।२।।
असिले देविले चेव दीवायण महारिसी।
पारासरे दगं भोच्चा बीयाणि हरियाणि यं ।।३।।
एते पुव्वं महापुरिसा आहिता इह संभता।
भोच्चा बीओदगं सिद्ध इति मेयमणुस्सुअ।।४।।
—सूत्रकृताङ्ग, १/३/४/१-४

१०. वही, २/६/१-३, ७, ९,
११. भगवती शतक, १५.
१२. उपासकदशांग, अध्याय ६ एवं ७.
१३. (अ) सुत्तनिपात, ३२ सभियसुत्त,
(ब) दीघनिकाय, सामञ्ञफलसूत्र।
१४. ये ते समणब्राह्मणा संगिनो गणिनो गणाचरिया आता यसस्सिनो तित्थकरा साधु सम्मता, बहुजनस्स, सेय्यथीदं पूरणो कस्सपो, मक्खलिगोसालो, अजितो केसकम्बली, पकुधो कच्चायनो, संजयो वेलटिठपुत्तो, निगण्ठो नातपुत्तो।—सुत्तनिपात, ३२-सभियंसुत्त.
१५अ. भरत सिंह उपाध्याय, पालिसाहित्य का इतिहास, पृष्ठ १०२-१०४।
(B) It is ..... the oldest of the pectic books of the Buddhist scriptures. Introduction, page-2, --Sutta-Nipata (Siter Vajira).
१६. उभो नारद पब्बता। — सुत्तनिपात ३२, सभियसुत्त, ३४।
१७. असितो इसि अद्दस दिवाविहारे।—सुत्तनिपात ३७, नालकसुत्त १।
१८. जिण्णेऽहमस्मि अबलो वीतवण्णे (इच्चायस्मा पिंगियो)
सुत्तनिपात ७१ पिंगियमाणवपुच्छा.
१९. सुत्तनिपात, ३२ सभियसुत्त।
२०. वही।
२१. वही।
२२. थेरगाथा ३६; डिक्सनरी ऑफ पाली प्रापर नेम्स वाल्यूम प्रथम, पृ० ६३१, वाल्यूम द्वितीय, पृ० १५.
२३. (अ) 'आता छेत्तं, तवो बीयं, संजमो जुअणंगलं।
झाणं फालो निसित्तो य, संवरो य बीयं दढं ।।८।।
अकूडत्तं च कूड़ेसु, विणए णियमणे ठिते।
तितिक्खा य हलीसा तु दया गुत्ती य पग्गहा ।।९।।
सम्मत्तं गोत्थणवो, समिती उ समिला तहा।
थितिजोत्तसुसंबद्धा सव्वण्णुवयणे रया ।।१०।।
पंचैव इंदियाणि तु खन्ता दन्ता य णिज्जिता।
माहणेसु तु ते गोणा गंभीरं कसते किसिं ।।११।।
तवो बीयं अवंझं से, अहिंसा णिहणं परं।
ववसातो घणं तस्स, जुत्ता गोणा य संगहो ।।१२।।
थिती खलं वसुयिकं, सद्धा मेढी य णिच्चला।
भावणा उ वती तस्स, इरिया दारं सुसंवुडं ।।१३।।
कसाया मलणं तस्स, कित्तिवातो व तक्खमा।
णिज्जरा तु लवामीसा इति दुक्खाण णिक्खति ।।१४।।
एतं किसिं कसित्ताणं सव्वसत्तदयावहं।
माहणे खत्तिए वेस्से सुद्दे वापि विसुज्झती ।।१५।।
—इसिभासियाइं, २६/८-१५।

(ब) "कतो छेत्तं कतो बीयं, कतो ते जुगणंगले?
गोणा वि ते ण पस्सामि, अज्जो, का णात ते किसी ।।१।।
आता छेत्तं, तवो बीयं, संजमो जुगणंगलं।
अहिंसा समिती जोज्जा, एसा घम्मन्तरा किसी ।।२।।
एसा किसी सोभतरा अलुद्धस्स वियाहिता।
एसा बहुसई होई परलोकसुहावहा ।।३।।
एयं किसिं कसित्ताणं सव्वसत्तदयावहं।
माहणे खत्तिए वेस्से सुद्दे वावि य सिज्झती" ।।४।।
—इसिभासियाइं, ३२/१-४।

२४. सद्धा बीजं तपो वुट्ठि पञ्ञा में युगनंगलं।
हिरि ईसा मनो योत्तं सति मे फालपाचनं ।।२।।
कायगुत्तो वचीगुत्तो आहारे उदरे यतो।
सच्चं करोमि निदानं सोरच्चं मे पमाचनं ।।३।।
रिरियं मे धुरधोरम्हं योगक्खेमाधिवाहनं।
गच्छति अनिवत्तन्तं यत्थ गन्त्वा न सोचति ।।४।।
एवमेसा कसी कट्ठा सा होति अमतप्फला।
एतं कसिं कसित्वान सब्बदुक्खा पमुच्चतीति ।।५।।
—सुत्तनिपात, ४-कसिभारद्वाजसुत्त।

२५. अहं च भोयरायस्स तं च सि अन्धगवण्हिणो।
मा कुले गन्धणा होमो संजमं निहुओ चर ।।—उत्तराध्ययन, २२/४४
२६. पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं।
नेच्छंति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे ।।—दशवैकालिक, १/६
२७. आन्गणे कुले जातो जधा जागो महाविसो।
मुंचिता सविसं भूतो पियन्तो जातो लाघवं ।।—इसिभासियाइं, ४५-४०
२८. (अ) इसिभासियाइं, २६/१५
(ब) इसिभासियाइं, ३२/४
29. See -- Introduction of *Isibhāsiyāiṁ*, by walther schubring, Ahmedabad-1974.
३०. देखें भगवती शतक, १५.
३१. देखें-उपासकदसांग, अध्याय ६ एवं ७.
३२. ज्ञाताधर्मकथा, द्रौपदी नामक अध्ययन।
३३. पत्तेयबुद्धमिसिणो बीसं तित्थे अरिट्ठणेमिस्स।
पासस्स य पण्णरस वीरस्स विलीणमोहस्स।।
— इसिभासियाइं, संपा० मनोहरमुनि, परिशिष्ट नं० १।
३४. नारयरिसिपामुक्खे, वीसं सिरिनेमिनाहतित्थम्मि।
पन्नरस पासतित्थे, दस सिरिवीरस्स तित्थम्मि ।।४४।।
पत्तेयबुद्धसाहू, नमिमो जे भासिउं सिवं पत्ता।
पणयालीसं इसिभासियाइं अज्झयणपवराइं ।।४५।।
ऋषिमण्डलप्रकरणम्, आत्मवल्लभ ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक १३, बालापुर, गाथा ४४, ४५ ।
३५. पण्हावागरणदसासु णं ससमय परसमय पण्णवय पतेअबुद्धविविहत्थ-भासाभासियाणं।—समवायांग, सूत्र ५४६.
३६. औपपातिक सूत्र ३८।
३७. बृहदारण्यक उपनिषद्, तृतीय अध्याय, पञ्चम ब्राह्मण, १।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org